

‘कर्मस्तव’

ग्रन्थ रचना का उद्देश्य

‘कर्मविपाक’ नामक प्रथम कर्मग्रन्थ में कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियों का वर्णन किया गया है। उसमें बन्ध योग्य, उदय-उदीरणा-योग्य और सत्ता योग्य प्रकृतियों की जुदी-जुदी संख्या भी दिखलाई गई है। अब उन प्रकृतियों के बन्ध की, उदय-उदीरणा की और सत्ता की योग्यता को दिखाने की आवश्यकता है। सो इसी आवश्यकता को पूरा करने के उद्देश्य से इस दूसरे कर्मग्रन्थ की रचना हुई है।

विषय-वर्णन-शैली

संसारी जीव गिनती में अनन्त हैं। इसलिए उनमें से एक व्यक्ति का निर्देश करके उन सब की बन्धादि संबन्धी योग्यता को दिखाना असंभव है। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति में बन्धादि संबन्धी योग्यता भी सदा एक सी नहीं रहती; क्योंकि परिणाम व विचार के बदलते रहने के कारण बन्धादि विषयक योग्यता भी प्रति समय बदला करती है। अतएव आत्मदर्शी शास्त्रकारों ने देहधारी जीवों के १४ वर्ग किये हैं। यह वर्गीकरण, उनकी आभ्यन्तर शुद्धि की उत्क्रान्ति-अपक्रान्ति के आधार पर किया गया है। इसी वर्गीकरण को शास्त्रीय परिभाषा में गुणस्थान-क्रम कहते हैं। गुणस्थान का यह क्रम ऐसा है कि जिससे १४ विभागों में सभी देहधारी जीवों का समावेश हो जाता है जिससे कि अनन्त देहधारियों की बन्धादि संबन्धी योग्यता को १४ विभागों के द्वारा बतलाना सहज हो जाता है और एक जीव-व्यक्ति की योग्यता—जो प्रति समय बदला करती है—उसका भी प्रदर्शन किसी न किसी विभाग द्वारा किया जा सकता है। संसारी जीवों की आन्तरिक शुद्धि के तरतमभाव की पूरी वैज्ञानिक जाँच करके गुण-स्थान क्रम की रचना की गई है। इससे यह बतलाना या समझना सरल हो गया है कि अमुक प्रकार की आन्तरिक अशुद्धि या शुद्धिवाला जीव, इतनी ही प्रकृतियों के बन्ध का, उदय-उदीरणा का और सत्ता का अधिकारी हो सकता है। इस कर्मग्रन्थ में उक्त गुणस्थान क्रम के आधार से ही जीवों की बन्धादि-संबन्धी योग्यता को बतलाया है। यही इस ग्रन्थ की विषय-वर्णन-शैली है।

विषय-विभाग

इस ग्रंथ के विषय के मुख्य चार विभाग हैं—(१) बन्धाधिकार, (२) उदयाधिकार, (३) उदीरणाधिकार और (४) सत्ताधिकार ।

बन्धाधिकार में गुणस्थान-क्रम को लेकर प्रत्येक गुणस्थान-वर्ती जीवों की बन्ध योग्यता को दिखाया है । इसी प्रकार उदयाधिकार में, उनकी उदय-संबन्धी योग्यता को, उदीरणाधिकार में उदीरणा संबन्धी योग्यता को और सत्ताधिकार में सत्ता संबन्धी योग्यता को दिखाया है । उक्त चार अधिकारों की घटना जिस वस्तु पर की गई है, इस वस्तु—गुणस्थान-क्रम का नाम निर्देश भी ग्रन्थ के आरम्भ में ही कर दिया गया है । अतएव, इस ग्रन्थ का विषय, पाँच भागों में विभाजित हो गया है । सबसे पहले, गुणस्थान-क्रम का निर्देश और पीछे क्रमशः पूर्वोक्त चार अधिकारी ।

‘कर्मस्तव’ नाम रखने का अभिप्राय

आध्यात्मिक विद्वानों की दृष्टि, सभी प्रवृत्तियों में आत्मा की ओर रहती है । वे, करें कुछ भी पर उस समय अपने सामने एक ऐसा आदर्श उपस्थित किये होते हैं कि जिससे उनकी आध्यात्मिक महत्वाभिलाषा पर जगत के आकर्षण का कुछ भी असर नहीं होता । उन लोगों का अटल विश्वास है कि ‘ठीक-ठीक लक्षित दिशा की ओर जो जहाज चलता है वह, बहुत कर विघ्न-बाधाओं का शिकार नहीं होता ।’ यह विश्वास, कर्मग्रन्थ के रचयिता आचार्य में भी था । इससे उन्होंने ग्रन्थ-रचना विषयक प्रवृत्ति के समय भी महान् आदर्श को अपनी नजर के सामने रखना चाहा । ग्रन्थकार की दृष्टि में आदर्श ये भगवान् महावीर । भगवान् महावीर के जिस कर्मक्षय रूप असाधारण गुण पर ग्रन्थकार मुग्ध हुए थे उस गुण को उन्होंने अपनी कृति द्वारा दर्शाना चाहा । इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना उन्होंने अपने आदर्श भगवान् महावीर की स्तुति के बहाने से की है । इस ग्रन्थ में मुख्य वर्णन, कर्म के बन्धादि का है, पर वह किया गया है स्तुति के बहाने से । अतएव, प्रस्तुत ग्रन्थ का अर्थानुरूप नाम कर्मस्तव रखा गया है ।

ग्रन्थ रचना का आधार

इस ग्रन्थ की रचना ‘प्राचीन कर्मस्तव’ नामक दूसरे कर्म ग्रन्थ के आधार पर हुई है । उसका और इसका विषय एक ही है । मेद इतना ही है कि इसका परिमाण प्राचीन ग्रन्थ से अल्प है । प्राचीन में ५५ गांथाएँ हैं, पर इसमें ३४ । जो बात प्राचीन में कुछ विस्तार से कही है उसे इसमें परिमित शब्दों के द्वारा कह दिया है । यद्यपि व्यवहार में प्राचीन कर्मग्रन्थ का नाम ‘कर्मस्तव’ है, पर

उसके आरम्भ की गाथा से स्पष्ट जान पड़ता है कि उसका असली नाम, 'बन्धोदयसत्त्वयुक्तस्तव' है। यथा—

नमिऊण जिणवरिंदे तिहुयणवरनारादंसणपईवे ।

बंधुदयसंतजुतं वोच्छामि थयं निसामेह ॥१॥

प्राचीन के आधार से बनाए गए इस कर्मग्रन्थ का 'कर्मस्तव' नाम कर्ता ने इस ग्रन्थ के किसी भाग में उल्लिखित नहीं किया है, तथापि इसका 'कर्मस्तव' नाम होने में कोई संदेह नहीं है। क्योंकि इसी ग्रन्थ के कर्ता श्री देवेन्द्रसूरि ने अपने रचे तीसरे कर्मग्रन्थ के अन्त में 'नेयं कम्मत्थयं सोउ' इस अंश से उस नाम का कथन कर ही दिया है। स्तव शब्द के पूर्व में 'बन्धोदय-सत्त्व' या 'कर्म' कोई भी शब्द रखा जाए, मतलब एक ही है। परन्तु इस जगह इसकी चर्चा, केवल इसलिए की गई है कि प्राचीन दूसरे कर्म ग्रन्थ के और गोम्मटसार के दूसरे प्रकरण के नाम में कुछ भी फरक नहीं है। यह नाम की एकता, श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्यों के ग्रन्थ-रचना-विषयक पारस्परिक अनुकरण का पूरा प्रमाण है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि नाम सर्वदा समान होने पर भी गोम्मटसार में तो 'स्तव' शब्द की व्याख्या बिलकुल विलक्षण है, पर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ में तथा उसकी टीका में 'स्तव' शब्द के उस विलक्षण अर्थ की कुछ भी सूचना नहीं है। इससे यह जान पड़ता है कि यदि गोम्मटसार के बन्धोदयसत्त्वयुक्त नाम का आश्रय लेकर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ का वह नाम रखा गया होता तो उसका विलक्षण अर्थ भी इसमें स्थान पाता। इससे यह कहना पड़ता है कि प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना गोम्मटसार से पूर्व हुई होगी। गोम्मटसार की रचना का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी बताया जाता है—प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना का समय तथा उसके कर्ता का नाम आदि ज्ञात नहीं। परन्तु उसकी टीका करने वाले 'श्री गोविन्दाचार्य' हैं जो श्री देशनाग के शिष्य थे। श्री गोविन्दाचार्य का समय भी संदेह की तह में छिपा है पर उनकी बनाई हुई टीका की प्रति—जो वि० सं० १२७७ में ताड़पत्र पर लिखी हुई है—मिलती है। इससे यह निश्चित है कि उनका समय, वि० सं० १२७७ से पहले होना चाहिए। यदि अनुमान से टीकाकार का समय १२ वीं शताब्दी माना जाए तो भी यह अनुमान करने में कोई आपत्ति नहीं कि मूल द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना उससे सौ-दो सौ वर्ष पहले ही होनी चाहिए। इससे यह हो सकता है कि कदाचित् उस द्वितीय कर्मग्रन्थ का ही नाम गोम्मटसार में लिया गया हो और स्वतंत्रता दिखाने के लिए 'स्तव' शब्द की व्याख्या बिलकुल बदल दी गई हो। अस्तु, इस विषय में कुछ भी निश्चित करना साहस है। यह

अनुमान सृष्टि, वर्तमान लेखकों की शैली का अनुकरण मात्र है। इस नवीन द्वितीय कर्मग्रन्थ के प्रणेता श्री देवेन्द्रसूरि का समय आदि पहले कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना से जान लेना।

गोम्मटसार में 'स्तव' शब्द का सांकेतिक अर्थ

इस कर्मग्रन्थ में गुणस्थान को लेकर बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का विचार किया है वैसे ही गोम्मटसार में किया है। इस कर्मग्रन्थ का नाम तो 'कर्म-स्तव' है पर गोम्मटसार के उस प्रकरण का नाम 'बन्धोदयसत्त्व-युक्त-स्तव' जो 'बन्धुदयसत्त्वजुक्तं औघादेसे थवं वोच्छं' इस कथन से सिद्ध है (गो० कर्म० गा० ७६)। दोनों नामों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि कर्मस्तव में जो 'कर्म' शब्द है उसी की जगह 'बन्धोदयसत्त्वयुक्त' शब्द रखा गया है। परन्तु 'स्तव' शब्द दोनों नामों में समान होने पर भी, उसके अर्थ में बिलकुल भिन्नता है। 'कर्मस्तव' में 'स्तव' शब्द का मतलब स्तुति से है जो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है पर गोम्मटसार में 'स्तव' शब्द का स्तुति अर्थ न करके खास सांकेतिक किया गया है। इसी प्रकार उसमें 'स्तुति' शब्द का भी पारभाषिक अर्थ किया है जो और कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे—

सयलंगेककंगेकगहियार सवित्थरं ससंखेवं ।

वरणससत्थं थयथुइधम्मकहा होइ गियमेण ॥

—गो० कर्म० गा० ८८

अर्थात् किसी विषय के समस्त अंगों का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करने वाला शास्त्र 'स्तव' कहलाता है, एक अंग का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करनेवाला शास्त्र 'स्तुति' और एक अंग के किसी अधिकार का वर्णन जिसमें है वह शास्त्र 'धर्म-कथा' कहाता है।

इस प्रकार विषय और नामकरण दोनों तुल्यप्राय होने पर भी नामार्थ में जो भेद पाया जाता है, वह संप्रदाय-भेद तथा ग्रन्थ-रचना-संबंधी देश-काल के भेद का परिणाम जान पड़ता है।

गुणस्थान का संक्षिप्त सामान्य-स्वरूप

आत्मा की अवस्था किसी समय अज्ञानपूर्ण होती है। वह अवस्था सबसे प्रथम होने के कारण निकृष्ट है। उस अवस्था से आत्मा अपने स्वाभाविक चेतना, चारित्र आदि गुणों के विकास की बदौलत निकलता है और धीरे-धीरे उन शक्तियों के विकास के अनुसार उत्क्रान्ति करता हुआ विकास की पूर्णकला—अंतिम हद को पहुँच जाता है। पहली निकृष्ट अवस्था से

निकलकर विकास की आखिरी भूमि को पाना ही आत्मा का परम साध्य है। इस परम साध्य की सिद्धि होने तक आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी ऐसी क्रमिक अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। इन्हीं अवस्थाओं की श्रेणी को 'विकास क्रम' या 'उत्क्रांति मार्ग' कहते हैं; और जैन-शास्त्रीय परिभाषा में उसे 'गुणस्थान-क्रम' कहते हैं। इस विकास-क्रम के समय होनेवाली आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का संक्षेप १४ भागों में कर दिया है। ये १४ भाग गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। दिगम्बर साहित्य में 'गुण-स्थान' अर्थ में संक्षेप, ओष सामान्य और जीवसमास शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है। १४ गुणस्थानों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा—इस प्रकार पूर्वपूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थानों में विकास की मात्रा अधिक रहती है। विकास की न्यूनाधिकता का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलंबित है। स्थिरता, समाधि अंतर्दृष्टि, स्वभाव-रमण, स्वोन्मुखता—इन सब शब्दों का मतलब एक ही है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन और चारित्र्य-शक्ति की शुद्धि के तारतम्य पर निर्भर है। दर्शन शक्ति का जितना अधिक विकास जितनी अधिक निर्मलता उतना ही अधिक आविर्भाव सद्दिश्वास, सद्गुण, सद्भक्ति, सत्श्रद्धा या सत्याग्रह का समझिए। दर्शन शक्ति के विकास के बाद चारित्र्य शक्ति के विकास का क्रम आता है। जितना-जितना चारित्र्य-शक्ति का अधिक विकास उतना-उतना अधिक आविर्भाव क्षमा, संतोष, गाम्भीर्य, इन्द्रिय-जय आदि चारित्र्य गुणों का होता है। जैसे-जैसे दर्शन शक्ति व चारित्र्य शक्ति की विशुद्धि बढ़ती जाती है, तैसे-तैसे स्थिरता की मात्रा भी अधिक-अधिक होती जाती है। दर्शन-शक्ति व चारित्र्य-शक्ति की विशुद्धि का बढ़ना-घटना, उन शक्तियों के प्रतिबन्धक (रोकनेवाले) संस्कारों की न्यूनता-अधिकता या मन्दता-तीव्रता पर अवलंबित है। प्रथम तीन गुणस्थानों में दर्शन-शक्ति व चारित्र्य-शक्ति का विकास इसलिए नहीं होता कि उनमें उन शक्तियों के प्रतिबन्धक संस्कारों की अधिकता या तीव्रता है। चतुर्थ आदि गुण स्थानों में वे ही प्रतिबन्धक संस्कार कम (मन्द) हो जाते हैं; इससे उन गुणस्थानों में शक्तियों का विकास आरम्भ हो जाता है।

इन प्रतिबन्धक (कषाय) संस्कारों के स्थूल दृष्टि से ४ विभाग किये हैं। ये विभाग उन काषायिक संस्कारों की विपाक शक्ति के तरतम-भाव पर आश्रित हैं। उनमें से पहला विभाग—जो दर्शन शक्ति का प्रतिबन्धक है—उसे दर्शन-मोह तथा अनन्तानुबन्धी कहते हैं। शेष तीन विभाग चारित्र्य शक्ति के प्रतिबन्धक हैं। उनको यथाक्रम अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कहते

हैं। प्रथम विभाग की तीव्रता, न्यूनाधिक प्रमाण में तीन गुणस्थानों (भूमिकाओं) तक रहती है। इससे पहले तीन गुणस्थानों में दर्शन-शक्ति के अविर्भाव का सम्भव नहीं होता। कषाय के उक्त प्रथम विभाग की अल्पता, मन्दता या अभाव होते ही दर्शन-शक्ति व्यक्त होती है। इसी समय आत्मा की दृष्टि खुल जाती है। दृष्टि के इस उन्मेष को विवेकख्याति, भेदज्ञान, प्रकृति-पुरुषान्यता-साक्षात्कार और ब्रह्मज्ञान भी कहते हैं।

इस शुद्धि दृष्टि से आत्मा जड़-चेतन का भेद, असंदिग्ध रूप से जान लेता है। यह उसके विकास-क्रम की चौथी भूमिका है इसी भूमिका में से वह अन्तर्दृष्टि बन जाता है और आत्म मन्दिर में वर्तमान तात्त्विक परमात्म-स्वरूप को देखता है। पहले की तीन भूमिकाओं में दर्शन मोह और अनन्तानुबन्धी नाम के कषाय संस्कारों की प्रबलता के कारण आत्मा अपने परमात्म-भाव को देख नहीं सकता। उस समय वह बहिर्दृष्टि होता है। दर्शनमोह आदि संस्कारों के वेग के कारण उस समय उसकी दृष्टि इतनी अस्थिर व चंचल बन जाती है कि जिससे वह अपने में ही वर्तमान परमात्म स्वरूप या ईश्वरत्व को देख नहीं सकता। ईश्वरत्व भीतर ही है, परन्तु है वह अत्यन्त सूक्ष्म; इसलिए स्थिर व निर्मल दृष्टि के द्वारा ही उसका दर्शन किया जा सकता है। चौथी भूमिका या चौथे गुणस्थान को परमात्म-भाव के या ईश्वरत्व के दर्शन का द्वार कहना चाहिए। और उतनी हद तक पहुँचे हुए आत्मा को अन्तरात्मा कहना चाहिए। इसके विपरीत पहली तीन भूमिकाओं में वर्तने के समय, आत्मा को बहिरात्मा कहना चाहिये। क्योंकि वह उस समय बाहरी वस्तुओं में ही आत्मत्व की भ्रान्ति से इधर-उधर दौड़ लगाया करता है। चौथी भूमिका में दर्शन मोह तथा अनन्तानुबन्धी संस्कारों का वेग तो नहीं रहता, पर चारित्र-शक्ति के आवरण-भूत संस्कारों का वेग अवश्य रहता है। उनमें से अप्रत्याख्यानावरण संस्कार का वेग चौथी भूमिका से आगे नहीं होता इससे पाँचवीं भूमिका में चारित्र-शक्ति का प्राथमिक विकास होता है; जिससे उस समय आत्मा, इन्द्रिय-जय यम-नियम आदि को थोड़े बहुत रूप में करता है—थोड़े बहुत नियम पालने के लिए सहिष्णु हो जाता है। प्रत्याख्यानावरण नामक संस्कार—जिनका वेग पाँचवीं भूमिका से आगे नहीं है—उनका प्रभाव पड़ते ही चारित्र-शक्ति का विकास और भी बढ़ता है, जिससे आत्मा बाहरी भोगों से हटकर पूरा संन्यासी बन जाता है। यह हुई विकास की छठी भूमिका। इस भूमिका में भी चारित्र-शक्ति के निपट्टी 'संज्वलन' नाम के संस्कार कभी-कभी ऊधम मचाते हैं, जिससे चारित्र-शक्ति का विकास दबता नहीं, पर उसकी शुद्धि या स्थिरता में अन्तराय इस प्रकार आते हैं, जिस प्रकार वायु के वेग के कारण, दीप की ज्योति

की स्थिरता व अधिकता में। आत्मा जब 'संज्वलन' नाम के संस्कारों को दबाता है, तब उत्क्रान्ति पथ की सातवीं आदि भूमिकाओं को लाँघकर ग्यारहवीं-बारहवीं भूमिका तक पहुँच जाता है। बारहवीं भूमिका में दर्शन-शक्ति व चारित्र-शक्ति के विपक्षी संस्कार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, जिससे उक्त दोनों शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। तथापि उस अवस्था में शरीर का संबन्ध रहने के कारण आत्मा की स्थिरता परिपूर्ण होने नहीं पाती। वह चौदहवीं भूमिका में सर्वथा पूर्ण बन जाती है और शरीर का वियोग होने के बाद वह स्थिरता, वह चारित्र-शक्ति अपने यथार्थ रूप में विकसित होकर सदा के लिये एक सी रहती है। इसी को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष कहीं बाहर से नहीं आता। वह आत्मा की समग्र शक्तियों का परिपूर्ण व्यक्त होना मात्र है—

मोक्षस्थ न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव च ।

अज्ञान-हृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥

—शिव गीता—१३-३२

यह विकास की पराकाष्ठ, यह परमात्म-भाव का अभेद, यह चौथी भूमिका (गुणस्थान) में देखे हुए ईश्वरत्व का तादात्म्य, यह वेदान्तियों का ब्रह्म-भाव यह जीव का शिव होना और यही उत्क्रान्ति मार्ग का अन्तिम साध्य है। इसी साध्य तक पहुँचने के लिए आत्मा को विरोधी संस्कारों के साथ लड़ते-भगाड़ते, उन्हें दबाते, उत्क्रान्ति-मार्ग की जिन-जिन भूमिकाओं पर आना पड़ता है, उन भूमिकाओं के क्रम को ही 'गुणस्थान क्रम' समझना चाहिए। यह तो हुआ गुणस्थानों का सामान्य स्वरूप। उन सबका विशेष स्वरूप थोड़े बहुत विस्तार के साथ इसी कर्मग्रन्थ की दूसरी गाथा की व्याख्या में लिख दिया गया है।

ई० १६२१]

[द्वितीय कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना